

एक बातचीत

कृष्ण कुमार के साथ

दिशा नवानी

पिछले दिनों प्रमुख शिक्षाविद् कृष्ण कुमार के साथ दिशा नवानी ने पाठ्यपुस्तकों के विविध आयामों पर बातचीत की थी। इसमें पाठ्यपुस्तकों के शिक्षकों-विद्यार्थियों के लिए मायने, पाठ्यपुस्तकों का विकास, उनमें शामिल सामग्री, पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के पैमाने जैसे विविध पहलुओं पर काफी खुलकर चर्चा हुई है।

❓ प्रश्न - भारतीय शिक्षण में पाठ्यपुस्तक का क्या महत्व है?

भारतीय शिक्षण व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक की एक अहम भूमिका है। पाठ्यपुस्तक ही वो धुरी है जिसके इर्द-गिर्द कक्षा में होने वाला शिक्षण घूमता है, वह आधार जिस पर परीक्षा ली जाती है व एक ऐसा ज़रिया जिससे राज्य कक्षा में होने वाली शिक्षण प्रक्रिया पर नियंत्रण रखता है, पाठ्यपुस्तक ही तो है।

❓ प्रश्न - पाठ्यपुस्तक विद्यार्थी के जीवन में कब और क्यों इतनी महत्वपूर्ण बन गई?

आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था का जन्म औपनिवेशिक परिस्थितियों में हुआ। इस सिलसिले में यदि आप 19वीं सदी की शिक्षा-व्यवस्था के इतिहास को देखेंगे तो एक बड़ी बुनियादी बात पाएँगे कि उसमें पाठशालाएँ शिक्षक के द्वारा ही संचालित की जाती थीं। पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री भी छपी हुई नहीं थीं। पारम्परिक पाठ्यपुस्तक थी जो प्रायः स्थानीय ज़रूरतों की पूर्ति करती थी। एक स्थान में दी जाने वाली शिक्षा या पाठ्य सामग्री किसी दूसरे स्थान की शिक्षा से कुछ भिन्न व कुछ समान थी। व्याकरण की शिक्षा या भाषा पढ़ाने के तरीके में तो कुछ समानताएँ थीं लेकिन किस प्रकार का गणित पढ़ाया जाएगा, इसको लेकर भिन्नताएँ भी थीं। उस शिक्षा-व्यवस्था का रूपान्तर जब आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में हुआ, तो उस क्रम में, पाठ्यपुस्तक के माध्यम से ही एक तरह का नियंत्रण स्थापित हो सका। पाठ्यपुस्तक के माध्यम से ही स्वीकृत ज्ञान सम्प्रेषित हुआ - एक ऐसा ज्ञान जो शिक्षक के लिए बच्चों

को देना आवश्यक था। इसके लिए शिक्षक का प्रशिक्षण आरम्भ हुआ। पाठ्यपुस्तक को पढ़ाना व उसके ज़रिए एक प्रकार का मानक स्थापित करना, औपनिवेशिक व्यवस्था में सम्भव हुआ और ये व्यवस्था काफी टिकाऊ सिद्ध हुई। शिक्षक का खुद का बौद्धिक जीवन पहले चाहे कितना भी सीमित रहा हो, उसके शासकीय कर्मचारी बन जाने के बाद और भी संकीर्ण हो गया। अब शिक्षक मानो पाठ्यपुस्तक पढ़ाने के लिए ही नियुक्त होने लगा। इस तरह से पाठ्यपुस्तक की केन्द्रीयता जो 19वीं सदी के उत्तरार्ध में बननी शुरू हुई, वह आज तक स्थिर है।

? प्रश्न - पाठ्यपुस्तकों की आलोचना में अक्सर यह माना गया है कि 'वे बच्चों के जीवन से मेल नहीं खाती', इसका क्या मतलब है?

औपनिवेशिक सन्दर्भ में तो यह स्पष्ट ही था कि पाठ्यपुस्तक एक तरह से अपरिचित किस्म का ज्ञान और खासकर ऐसे विषयों का ज्ञान, जैसे भूगोल, ज्यामिति इत्यादि को विद्यार्थी और शिक्षक, दोनों के सम्मुख रख रही थी। पाठ्यपुस्तक की वस्तु सांस्कृतिक या पारम्परिक रूप से चली आ रही विषयवस्तु से शुरू से ही भिन्न थी। पाठ्यपुस्तक का निर्माण सरकार के कामों में शामिल था। डाइरेक्टोरेट या संचालनालय का काम पाठ्यपुस्तक की रचना करना या करवाना था। चुने गए व्यक्ति अपने ढंग से उस पाठ्यपुस्तक को तैयार करते थे। आज जब यह कहा जाता है कि पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु बच्चों के जीवन से मेल नहीं खाती, तो ये एक लम्बी कहानी है। अगर आप, 2005 के पश्चात् एनसीईआरटी द्वारा तैयार की गई पुस्तकों को देखेंगे, तो ये वाक्य आपको अधूरा-सा लगेगा। क्योंकि नई पाठ्यपुस्तकें, राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा, 2005 के तहत बनाई गई हैं जिसका उद्देश्य ही बच्चों के जीवन को प्रतिबिम्बित करना और शिक्षक के लिए ये सम्भव बनाना एवं रास्ता खोलना है कि वो बच्चों के जीवन के विवरणों को पाठ्यपुस्तक में दी गई सामग्री के साथ जोड़ सकें। अगर शिक्षक के लिए यह उद्देश्य है कि बच्चों का जीवन कक्षा में की जाने वाली पढ़ाई का सन्दर्भ बने, तो नई पाठ्यपुस्तकें उस काम को सहारा देने की कोशिश करती हैं। हालाँकि यह बात भी सच है, कि कई राज्य अभी भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। क्योंकि भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में यह कोई आसान काम नहीं है जहाँ बच्चों का एक जीवन नहीं है, उसके कई सन्दर्भ हैं।

? प्रश्न - पाठ्यपुस्तक को बच्चों के जीवन के नज़दीक लाना हो तो क्या कोई ऐसा आम भारतीय बच्चा है जिसके जीवन को उनमें दर्शाया जा सकता है?

अगर आप राष्ट्रीय फोकस समूह, 'करीक्युलम, सिलेबस और टेक्स्टबुकस'

को पढ़ें तो उसमें तो ये साफ लिखा है कि दरअसल किसी भी विषय के लिए एक पाठ्यपुस्तक होनी ही नहीं चाहिए बल्कि कई पाठ्यपुस्तकें होनी चाहिए। उसका शिक्षक के बारे में भी यह मानना है कि उसमें स्वायत्तता और प्रशिक्षण से प्राप्त हुई सुझबूझ होनी चाहिए कि वो जिस सामग्री को जिस विषय के लिए उचित समझे, उसका इस्तेमाल कर सके। एनसीईआरटी ने भले ही एक पाठ्यमाला छापी, पर उसका आग्रह यह बिलकुल नहीं है कि आप उसी पाठ्यपुस्तक का इस्तेमाल करें बल्कि नई पाठ्यपुस्तकों में यह भी बताया गया है कि उन्हें पढ़ाने के लिए इन-इन पुस्तकों का इस्तेमाल किया जा सकता है। कुछ किताबों में तो पीछे के पृष्ठ पर उन सहयोगी पुस्तकों के विज्ञापन या सूची भी दी गई हैं। एक कक्षा के भीतर यह उम्मीद करना कि कोई एक पाठ्यपुस्तक किसी ऐसे मॉडल जीवन को प्रतिबिम्बित करेगी जिसमें सभी बच्चों का जीवन प्रवेश पा जाए, ये न तो नीति का उद्देश्य है और न ही सम्भव। पुस्तक तो सिर्फ एक ज़रिया है जिसकी मदद से एक ज़मीन तैयार की जा सकती है जिसमें अध्यापक बच्चों की ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए अपनी सूझ-बूझ से आगे बढ़ सकता है।

? प्रश्न - पाठ्यपुस्तक को बच्चों के जीवन के नज़दीक लाने के सन्दर्भ में यह आलोचना भी की गई है कि बच्चों का जीवन भी कोई आदर्श जीवन नहीं है और तमाम सामाजिक बुराइयों से भरपूर है।

जुड़ने से यह आशय नहीं है कि जो भी कुछ बच्चों के जीवन में हो रहा है उसको ही दिखाना शुरू कर दें, बल्कि जो कुछ हो रहा है उसी में वो जगह निकालें, जहाँ प्रश्न पूछने की सम्भावना है। प्रश्न ये नहीं है कि पाठ्यपुस्तक में सामग्री क्या दी गई है। बल्कि सामग्री की मदद से कक्षा में किस तरह का संवाद पैदा किया जा सकता है। क्या वो संवाद ऐसा है, जो साम्प्रदायिकता के वातावरण को फैला रहा है, या उपभोक्तावाद का वातावरण जिसमें बच्चा जी रहा है, उसे बढ़ावा दे रहा है, या स्त्रियों, गरीबों या प्रकृति के प्रति हिंसा को प्रोत्साहित कर रहा है? प्रश्न ये है कि क्या उस सब के बीच में जीते हुए बच्चों के मन में, वह इन्हीं बातों पर प्रश्न उठाने की इच्छा व प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने की क्षमता उत्पन्न कर रहा है। इन सबका उद्देश्य बच्चों की रचनाशीलता या कल्पनाशीलता को विकसित करना है। ज़ाहिर है यह सब काम केवल बच्चों से जुड़ने वाली बात से ही सम्प्रेषित नहीं हो सकता। इसलिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा रूपरेखा 2005 समीक्षात्मक शिक्षा की बात उठाती है, समीक्षात्मक शिक्षण या क्रिटिकल पैडागॉजी, से आशय यह है कि हम अपने जीवन में जो चीज़ें पसर गई हैं, उनको उभारकर तटस्थ ढंग से देख सकें कि हमारे जीवन

में ये चीज़ें कहाँ से आई हैं। अच्छी हैं या बुरी हैं। इस तरह की तमाम चीज़ें जो कि कल्पनाशीलता और विचार को संकीर्ण बनाती हैं, जैसे धार्मिक अलगाववाद, उन सब पर सवाल उठाना भी बहुत ज़रूरी है। ज़ाहिर है, स्कूल अकेला इन सभी कामों को नहीं कर सकता लेकिन कम-से-कम ऐसी जगह तो बना सकता है जहाँ सोचने के काम को बढ़ावा मिले, जहाँ बुद्धि विकसित हो सके, न कि एक ऐसा स्थान जहाँ पिटी पिटाई परम्पराओं को संजो के रखा जाए।

❓ प्रश्न - राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा रूपरेखा बचपन के सन्दर्भ में क्या विचार रखती है?

प्रो. यशपाल ने राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा रूपरेखा की भूमिका में लिखा है कि हर नई पीढ़ी या बच्चों द्वारा अपनी ज़िन्दगी को नए सिरे से केवल जीने का नाम ज़िन्दगी नहीं है, बल्कि उसे परिभाषित करने का एक तरह का मौका भी है। अब अगर उस बच्चे को हम अपनी राह पर चलाएँगे, तो ज़ाहिर है प्रकृति की अपनी कोशिश भी रुक जाएगी। एक बड़े प्रसिद्ध नाटककार हबीब तनवीर का इस विषय में यह मानना था, “उड़ेगा... तो सातों आसमानों की खबर ले आएगा... और उड़ाओगे तो छत पर जाके बैठ जाएगा।” ये कबूतरबाज़ी से लिया गया शेर है। कि अगर आप इसको पालेंगे तो ज़्यादा-से-ज़्यादा यह आपके इशारे से छत पर बैठ जाएगा या फिर नीचे आ जाएगा। लेकिन अगर आप इसे स्वतंत्र छोड़ेंगे, तो फिर कहाँ-से-कहाँ इसकी उड़ान हो सकती है, इसकी कल्पना करना भी मुश्किल है।

❓ प्रश्न - क्या, कुछ ऐसे विषय हैं जिनको पढ़ाने के लिए एक ही पाठ्यपुस्तक का इस्तेमाल किया जा सकता है?

इस्तेमाल का आशय, अगर यह है कि पहले अध्याय से लेकर चौबीसवें अध्याय तक आप पाठ्यपुस्तक को पढ़ाते हैं तो वो तो हो ही रहा है। आप केन्द्रीय विद्यालयों में जाइए। आज जो दिल्ली के केन्द्रीय विद्यालय में पढ़ाया जा रहा है, ठीक वही लक्षद्वीप के केन्द्रीय विद्यालय में भी पढ़ाया जा रहा है।

❓ प्रश्न - क्या कुछ ऐसे विषय हैं जैसे - भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, गणित इत्यादि... जिनकी पाठ्यपुस्तकों का या उन्हें पढ़ाने में बच्चों के सन्दर्भ का कोई खास मूल्य नहीं है?

ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसे पढ़ाने के लिए बच्चों के आसपास के जीवन का कोई महत्व न हो। अच्छी सामग्री का मतलब यह है कि वो हमारा ध्यान किसी भी ऐसी चीज़ जो हमारे आसपास हो रही है, की तरफ दिलाए और फिर उस आसपास की घटना में से कोई एक बड़ा सार्वभौमिक विषय, विज्ञान

निकाले। उदाहरण के तौर पर अगर हम अपने आसपास एक पौधे को उगते हुए देखेंगे, तो पाएँगे कि उगने में सूर्य की धूप से उसे खुराक मिल रही है। यह तो एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है। हम जानते हैं कि हर पौधा सूरज से खुराक लेता है और अपने लिए खुराक बनाता है। इस सिद्धान्त में रुचि जगाने के लिए ज़रूरी है कि बच्चा कम-से-कम एक पौधा तो देखे, उसके साथ कुछ दिन जिए कि कब ये मुरझा जाता है, और कब खिल उठता है। ये सब सिद्धान्त सिर्फ सार्वभौमिक रूप से अगर आप बच्चों को बता देंगे तो न तो उसकी रुचि या उत्साह जागेगा, न ही उन पौधों के बारे में जानने की जिज्ञासा जागेगी। यदि हम अपने आसपास की चीज़ों को देखते हैं, टटोलते हैं, तब हम एक ज़्यादा बड़ी दुनिया की रचना अपने दिमाग में करना शुरू करते हैं। और अगर हम सीधे ही उस बड़ी दुनिया में छलांग लगाकर पहुँच जाते हैं तो फिर सम्भव है कि बहुत ज़्यादा उत्साह हम उस दुनिया के बारे में नहीं रख पाएँगे। ये शिक्षा-विज्ञान के काफी परिचित सिद्धान्तों में से एक है कि जो आसपास की दुनिया है, उसी से छोटे बच्चों की जिज्ञासा को लगन में तब्दील किया जा सकता है। तो चाहे वो चाँद, सूरज, सितारों की गति, पौधों का जीवन, या फिर धातुओं के बारे में कोई ज्ञान हो, वो शुरू तो कहीं-न-कहीं हमारे यहाँ से ही होता है।

? प्रश्न - बच्चों के जीवन, अहसासों व अनुभवों के सन्दर्भ में पाठ्यपुस्तकों से उनका रिश्ता किन कारकों पर निर्भर करता है?

यह प्रश्न हमें बच्चों के घरों के विभिन्न परिवेश में ले जाता है। उदाहरण के तौर पर, जिस बच्चे के परिवार में दो-तीन पीढ़ियों से शिक्षा चली आ रही है उसके लिए कोई भी पुस्तक, पाठ्यपुस्तक, अखबार, पत्रिका, या ऐसी चीज़ों का पहले से ही एक अर्थ बना हुआ है जिसमें उसे सामाजीकृत होना है। और उसको उस तरह का सामाजीकरण देने के लिए उसके परिवार के पास संसाधन भी हैं। इसकी तुलना एक ऐसे बच्चे से करें जो पहली पीढ़ी है। उस परिवार में उस बच्चे के लिए पाठ्यपुस्तक व पढ़ने-लिखने का एक काफी अलग अर्थ है। न केवल इस अर्थ में कि उसके माता-पिता और उसके आसपास के बड़े-बूढ़े भी इसमें उसकी मदद नहीं कर सकते बल्कि इस अर्थ में भी कि उसका अपना दिमाग जिस तरह की साक्षर संस्कृति से प्रभावित होगा या रचा जाएगा, वो दिमाग कई अर्थों में उसके माता-पिता के या उसके बड़े-बूढ़ों के दिमाग से देखने, सोचने, समझने के तरीकों इत्यादि से एकदम अलग होगा। यह काफी जटिल विषय है और इसमें कई बारीकियाँ हैं। इसे संक्षेप में समझना बहुत मुश्किल है। एक वाचक और साक्षर परम्परा में

बुनियादी अन्तर होते हैं क्योंकि वो अन्तर समाज की अपनी संरचना से सम्बन्ध रखते हैं। उस सन्दर्भ में जब आप पाठ्यपुस्तक और बच्चे के सम्बन्ध की बात करते हैं, तो कई चीज़ें हमारे सामने खुलती हैं। जैसे कि जिस घर में कोई और पुस्तक नहीं है, वहाँ एक पाठ्यपुस्तक कहीं ज़्यादा अहम भूमिका निभाती है क्योंकि उस पाठ्यपुस्तक का इस्तेमाल एक सामग्री के तौर पर नहीं होता बल्कि वो अपने आप में एक प्रतीक बन जाती है - स्कूल, कुछ अरमानों व एक पूरी जीवन शैली का प्रतीक और उसको सहेजना, ध्यान से रखना बड़ा महत्वपूर्ण हो जाता है। जबकि कोई और बच्चा जिसके घर व स्कूल में तरह-तरह की किताबें हैं, जहाँ पर पुस्तकों का एक विशेष नयापन भी नहीं है, जहाँ पाठ्यपुस्तक बहुत समय से पढ़ी जा रही हैं, वहाँ पाठ्यपुस्तकें अनेक पुस्तकों में से एक हैं। तो हम ऐसा मान सकते हैं कि किसी बच्चे का पाठ्यपुस्तक से जुड़ाव, अन्ततः किसी बड़े सामाजिक परिवेश से जुड़े हुए कारकों से प्रभावित होगा।

2 प्रश्न - पाठ्यपुस्तक निर्माण में एक तरफ अध्यापक और दूसरी तरफ विषय-विशेषज्ञ की क्या भूमिका होनी चाहिए?

विषय-विशेषज्ञ की भूमिका उस विषय में जो भी समकालीन ज्ञान है, उसके सम्पर्क से पैदा होने वाली अवधारणाओं व जानकारियों को पाठ्यपुस्तक के दायरे में लाना है। अध्यापक की भूमिका इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह अपने अनुभव से यह जानता है कि उस विषय के कौन से बिन्दु व पहलू हैं जो बच्चों को रुचिकर लगते हैं, जिनको पढ़ते समय बच्चों को किस तरह का अनुभव होता है, कौन-सी चुनौतियाँ आती हैं व किस तरह से उनसे जूझा जा सकता है इत्यादि। इन दोनों पक्षों के अलावा एक तीसरा महत्वपूर्ण पक्ष भी है। इसलिए जब एनसीईआरटी में नई किताबें बन रही थीं, तो हमने इसमें उस पक्ष को भी शामिल किया जिन्हें आज एक वैश्वीकृत लेबल से जाना जाता है - एनजीओ वर्ग या गैर सरकारी संगठन। दुर्भाग्यवश लेबल उतना अच्छा नहीं है। दरअसल, ये उस तरह के संगठन हैं जो अपनी ऊर्जा से खासकर ज़रूरतमन्द या वंचित वर्ग के साथ काम करते हैं। उनके अनुभव चाहे वो विज्ञान, भाषा या गणित में हों वो अनुभव न तो विशेषज्ञ के पास होते हैं और न ही अध्यापक के पास। स्वैच्छिक संस्थाएँ व उनके प्रतिनिधियों को भी पाठ्यपुस्तक निर्माण में शामिल करने से पाठ्यपुस्तक के निर्माण को एक नई तरह की ऊर्जा मिलती है, जो 2005 और उसके पश्चात् एनसीईआरटी सम्भव कर पाई है।

❓ प्रश्न - एक खराब पाठ्यपुस्तक के क्या मायने हैं ?

खराब पाठ्यपुस्तक कई तरह से परिभाषित की जा सकती है। जिसको लिखते समय पाठक का ध्यान नहीं रखा जाए ऐसी पुस्तक पठनीय नहीं हो सकती। अगर पाठक कोई बच्चा है तो इसका आशय यह है कि बच्चे की सोच, मनोविज्ञान व मनोस्थिति को ध्यान में रखे बगैर जो सामग्री लिखी गई है वो सामग्री खराब ही होगी, क्योंकि उसे समझने में न सिर्फ बच्चों को, बल्कि बड़ों को भी दिक्कत आएगी। ऐसी किताबें जिनमें तर्क नहीं होता, कहीं से भी कोई चीज़ जोड़ दी जाती है, एक के बाद एक परिभाषा बता दी जाती है, पुराने रूढ़ ढंग के उदाहरण दिए जाते हैं, ऐसे प्रयोग बता दिए जाते हैं जो फिर से किए ही नहीं जा सकते या जिन्हें आप कभी स्वयं करेंगे तो आपका हाथ जल जाएगा या कुछ चीज़ें टूट जाएँगी। जो सामग्री रूढ़ हो, जो बगैर ज़्यादा सोचे, चर्चा के, इसलिए आ गई है क्योंकि इसी तरह की सामग्री बहुत पहले से चली आ रही है उसका मुद्रण, प्रस्तुतिकरण, अभ्यास सभी कुछ अगर बहुत बोज़िल हों, तो उसकी यही विशेषताएँ उसको खराब घोषित करने के लिए पर्याप्त हैं। या फिर उसमें हर चीज़ बताने की एक इच्छा हो। यह भी एक समस्या है कि एक किताब पढ़कर कुछ भी स्वयं ढूँढ़ने लायक नहीं रह जाए तो ऐसी पुस्तक अच्छी कैसे कही जा सकती है? शिक्षा का उद्देश्य है कि आप खुद भी कुछ खोजें। अगर पाठ्यपुस्तक हर चीज़ बच्चे को बता दे, और अगर बच्चा ऐसा महसूस करे कि खोजने लायक कुछ बचा ही नहीं, तो ज़ाहिर है वह शिक्षा की दृष्टि से एक कमज़ोर-सी सामग्री बनेगी।

❓ प्रश्न - ऐसी परिस्थिति में शिक्षक की क्या भूमिका होनी चाहिए? किसी खराब पुस्तक का शिक्षक कैसे इस्तेमाल कर सकता है?

अगर किसी शिक्षक को खराब पाठ्यपुस्तक ही पढ़ाने को मिली है और उसको चयन करने का अधिकार भी उसके पास नहीं है, तो क्या वह अपने जीवन को अभिशप्त मान ले, या वो उसी खराब पाठ्यपुस्तक में भी कुछ जान डालने का प्रयास करे? ज़ाहिर है कि जो अच्छे शिक्षक हैं वो पाठ्यपुस्तक से हटने के रास्ते ढूँढ़ते हैं, और पाठ्यपुस्तक में जो सामग्री दी गई है उस विषय-बिन्दु के दायरे में ऐसे सन्दर्भ व उदाहरण ले आते हैं जो पाठ्यपुस्तक में नहीं हैं, लेकिन बच्चों के आसपास के जीवन से लिए गए हैं।

❓ प्रश्न - क्या इसमें पाठ्यपुस्तक की आलोचना करना शामिल हो सकता है?

जी हाँ, निश्चित रूप से शिक्षक-प्रशिक्षण का काम है कि पाठ्यपुस्तक की समीक्षा करने के आयाम वो शिक्षक को दे। आलोचना से यहाँ आशय यही

है कि शिक्षक समझे कि पाठ्यपुस्तक किन आयामों पर जाँची जाएगी, बच्चों के दृष्टिकोण से कैसी होगी, इसमें दिए गए अभ्यास कैसे हैं, कुछ मानकों के आधार पर खरी उतरेगी या नहीं, इत्यादि। अगर शिक्षक पुराने ढर्रे में ढला हुआ है और जो पाठ्यपुस्तक उसे दी गई है, उसी को पढ़ाना वह अपना काम समझता है, तो ऐसा शिक्षक तो बिल्कुल पाठ्यपुस्तक का गुलाम होगा और वो गुलामी की संस्कृति को ही आगे बढ़ाएगा। वो बच्चों से भी यही कहेगा कि चाहे समझ में आए या ना आए, इसी को याद कर लो। हमारे यहाँ इम्तिहान में ज्यादातर ऐसा ही होता है। पाठ्यपुस्तक में दी गई चीज़, भले ही समझ में आए न आए, इम्तिहान में उसे वैसे ही प्रस्तुत करना है। अगर आपने पुस्तक याद कर ली है तो कम-से-कम पास करने लायक नम्बर तो ले ही आते हैं, पर इससे शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं होता है।

? प्रश्न - बच्चों की पढ़ाई का मूल्यांकन व पाठ्यपुस्तक की संरचना व उसके इस्तेमाल में क्या सम्बन्ध है?

हमारे यहाँ पारम्परिक रूप से पाठ्यपुस्तक ही मूल रूप से मूल्यांकन का आधार बनी हुई है, जिसका अर्थ यह है कि पाठ्यपुस्तक में जो जानकारी दी गई है, उस जानकारी को याद करके प्रस्तुत कर देना ही मूल्यांकन की दृष्टि से पर्याप्त माना जाता है। सीखने व समझने के कौशल उस सामग्री की मदद से किस हद तक विकसित किए गए हैं, ये चीज़ें मूल्यांकन में कम आ पाती हैं। जैसे विश्लेषण, विवेचन, निर्णय लेना, किसी सामग्री को व्यवस्थित रूप से रखना, किसी सामग्री की मदद से किसी अपरिचित सामग्री तक पहुँचने का कौशल इत्यादि को कभी मूल्यांकित नहीं किया जाता। जानकारी को याद करना व दिए गए समय पर उसे दोहरा देना, ये भी एक तरह का कौशल है लेकिन बहुत सीमित दायरे का। इस कौशल से दिमाग की कोई नई खिड़कियाँ नहीं खुलतीं और न ही बौद्धिक क्षमताओं का विस्तार होता है। याद करना भी एक अच्छा कौशल है, लेकिन हमारे यहाँ वो तो एक तरह का ठेला बन जाता है कि यहाँ का माल उठाकर वहाँ पटकना है। एकलव्य की जनक संस्था थी, 'किशोर-भारती', उसने 1970 के दशक में एक पोस्टर बनाया था जो एक चीनी कहावत पर आधारित था। वो पोस्टर दर्शाता है कि मैंने सुना, भूल गया, मैंने देखा, याद रहा, मैंने करके देखा, समझ गया। तो इसमें भी याद करना शामिल है। यदि आप जब कुछ चीज़ समझ लेते हैं, तो सही सन्दर्भ आने पर वह आपको अपने आप याद आ जाती है। लेकिन अगर आप समझे ही नहीं हैं और याद कर लिया है, तो फिर कुछ दिन बाद ही आप उसे भूल जाते हैं। उसकी आयु भी सीमित ही होती है।

❑ प्रश्न - कई वर्षों तक एनसीईआरटी का मुख्य उद्देश्य पाठ्यपुस्तकों के ज़रिए राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देना था। क्या पाठ्यपुस्तकों को इस तरह की भूमिका निभानी चाहिए ?

यह प्रश्न निर्भर करता है कि आप एकता से क्या समझते हैं। एक खूबसूरत-सा जुमला है - विविधता ही भारत की एकता का आधार है। दरअसल उसका अर्थ है कि भारत की एकता की कुंजी या उसका रहस्य, उसकी विविधता में है। लेकिन विविधता कोई अचार नहीं है कि एक बार बना दिया तो फिर वो वैसे का वैसे ही रहे। शायद इसका अर्थ है कि विविधता अगर बढ़ेगी तो फिर एकता का ज़्यादा टिकाऊ स्वरूप पनपेगा। इसका अर्थ यह भी है कि विविधता केवल सुरक्षित ही न रहे, बल्कि बढ़ती और गहराती रहे, ऐसे में भारत की एकता के बने रहने की भी उम्मीद की जा सकती है। अगर एकता को इस तरह से विविधता के सन्दर्भ में लें और समझें, तो आप कह सकते हैं कि यह एनसीईआरटी के घोषित उद्देश्यों में से एक उद्देश्य रहा है।

❑ प्रश्न - 1960 में राष्ट्रीय एकता परिषद और राष्ट्रीय पाठ्यपुस्तक समिति बनी थी। क्या उनके अनुसार भी राष्ट्रीय एकता का यही उद्देश्य था ?

भारत एक निर्माणाधीन लोकतंत्र है। पिछले 60-65 वर्षों में अगर इसके राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विकास का एक जायज़ा लें, तो आप देखेंगे कि अलग-अलग दशकों में इस तरह की बुनियादी चीज़ों को अलग-अलग तरह के विमर्श में चित्रित किया गया है। 50 और 60 के दशक में नीति, राज्य, समाज, इत्यादि के अलग-अलग स्तरों पर इस प्रश्न के आपको अलग-अलग उत्तर मिलेंगे। अब कोई परिषद है जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री है, ज़ाहिर है कि वहाँ पर चर्चा होगी अगर किसी राज्य में भाषा या धर्म को लेकर अलगाववादी आन्दोलन चल रहा है। तो सबके सन्दर्भ में एकता को इस तरह से परिभाषित करना स्वभाविक है कि किस तरह अलगाववाद पर कुछ अंकुश लगाए जाएँ। राजनैतिक उद्देश्य के सन्दर्भ में 1960 के दशक में ऐसा बहुत-सा विमर्श जन्मा।

अगर आप उसी समय के साहित्य या सिनेमा को देखेंगे तो पाएँगे कि कला व साहित्य में, उसी दशक की विविधता को, एकता सूत्र मानने वाला या उसी को आधार मानने वाला विमर्श भी चल रहा था। पहली बार बंगाल से आई हुई कहानी पर हिन्दी की फिल्म बन रही थी। उसी दशक में किसी गीत की धुन, किसी आदिवासी धुन पर बनाई जा रही थी। और देश का मन्थन कला, साहित्य व भाषा की दुनिया में अलग-अलग स्तरों पर हो रहा था।

❓ प्रश्न - एनसीईआरटी की एकता सम्बन्धी समझ किस तरह से विकसित हुई?

अगर आप एनसीईआरटी की जो आज की समझ है, उसकी विवेचना करें तो ऐसा नहीं है कि उसका कोई आधार नहीं है। उसका आधार यह है कि एनसीईआरटी अखिल तो कभी एक तरह की किताब बनाने वाली परिषद नहीं रही है। एनसीईआरटी की शुरुआत में ही जो नीति बनाई गई, वो नीति यही थी कि जो सामग्री वह बनाएगी, वह केवल एक तरह का मानक होगी - जिसे देख के राज्य अपनी किताबें खुद बना सकते हैं। एनसीईआरटी ने कई राज्यों को अपनी पुस्तक बनाने के काम में मदद भी की। इसलिए उस समय सिवाय केन्द्रीय विद्यालयों के, अन्य सब जगह एनसीईआरटी द्वारा बनाई गई किताबें बहुत कम थीं। बल्कि अब आप कह सकते हैं कि कहीं ज्यादा राज्यों में एनसीईआरटी की बनाई हुई किताबें चल रही हैं। वे बिहार, झारखण्ड सभी राज्यों पर हावी हैं, क्योंकि वो कुछ नया कर रही हैं। इसलिए लोग उनको देखकर सोचते हैं कि हम तो ऐसा नहीं कर सकते, तो चलो हम इस तरह का ही कुछ बना देते हैं, या इसी में से कुछ ले लेते हैं। लेकिन राष्ट्रीय परिषद की नीति हमेशा प्रान्तीय क्षमताओं को बढ़ावा देने की रही है और 60 के दशक में भी उसकी यही नीति थी।

❓ प्रश्न - आपने कई वर्षों तक लगातार पाठ्यपुस्तकों की संरचना और उसके इस्तेमाल की आलोचना की है। एनसीईआरटी के डायरेक्टर बनने के बाद आपने कौन-सी ऐसी नीतियाँ अपनाईं जिनसे वे कमियाँ दूर हो सकीं ?

मैं एक लम्बे समय तक पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक की आलोचना करता रहा हूँ क्योंकि उनमें ज्ञान को लेकर जो अवधारणा काम कर रही थी, वह समस्याप्रद थी। उसका सैद्धान्तिक आधार बहुत अधूरा था। मतलब, कोई भी पाठ्यक्रम या पाठ्यपुस्तक किसी भी विषय में सम्पूर्ण ज्ञान को देने का दावा नहीं कर सकती। दुर्भाग्यवश एनसीईआरटी की पहले की किताबें तो हर दशक में मोटी-से-मोटी होती चली गईं। अगर आप प्राणी-विज्ञान की किताब मिसाल के तौर पर देखें तो सीधे एक हजार पन्ने, दो ग्रन्थों में चले गए क्योंकि दुनिया की हर चीज़ उसमें शामिल की गई थी।

अब मुद्दा यह है कि ज्ञान क्या है? अगर हमारा यह मानना है कि ज्ञान की रचना तो बच्चे के दिमाग में होती है तो उसमें अनुभवों, सामग्री व शिक्षक सभी की अहम भूमिका होती है। लेकिन अगर आप यह दावा करते हैं कि आप सारा ज्ञान बच्चे को पिला देंगे, तो आप उनकी भूमिका, उसके कर्त्ता-भाव की ही अवहेलना कर रहे हैं। इस आधार पर यह रूपरेखा कहती है कि सब कुछ पढ़ाया नहीं जा सकता, न ही पढ़ाया जाना चाहिए। चुनी हुई कुछ चीज़ें इस

तरह से प्रस्तुत की जानी चाहिए कि उनको पढ़ के, उनको समझ के और चीज़ें जानने की इच्छा उत्पन्न हो। इस सिद्धान्त का पालन करते हुए हमने, ये जो ज्ञान को बोझ बना देने वाली पाठ्यपुस्तक व पाठ्यक्रम की परम्परा थी, उसको किसी हद तक दूर किया है। अगर आप एनसीईआरटी की नई पाठ्यपुस्तकें देखें तो पाएँगे कि उस पर जगह-जगह लिखा है कि इस विषय पर आपको और जानकारी चाहिए तो फलानी चीज़ पढ़िए या शिक्षक से पूछिए या मोहल्ले में किसी से पूछिए, इत्यादि। यशपालजी ने इसको बहुत ही अच्छे शब्द दिए हैं। “पाठ्यक्रम, पुस्तक और शिक्षक सभी का काम बच्चे में समझ का चस्का पैदा करना है।” इंकवाइरी या खोज का अर्थ यह नहीं है कि दस चीज़ों को सतह से थोड़ा-थोड़ा समझ लेना बल्कि किसी एक चीज़ की गहराई में जाना।

? प्रश्न - आपके एनसीईआरटी डायरेक्टर बनने के बाद क्या पाठ्यपुस्तक को लेकर आपके विचारों में बदलाव आया?

मैं तो हमेशा से ही पाठ्यपुस्तक को शंका की दृष्टि से देखता रहा हूँ। इस विषय में मैं गाँधीजी के विचारों से सहमत हूँ। उनका कहना था कि पाठ्यपुस्तकें जितनी कम होंगी, शिक्षक के तेज़ को प्रकट होने का उतना ही मौका मिलेगा। मेरा भी मानना है कि पाठ्यपुस्तक एक साधन है, साध्य नहीं। अगर पाठ्यपुस्तक अच्छी है तो बच्चे खुद उसको पढ़ेंगे। अगर शिक्षक उसको पढ़ा रहा है तो शिक्षक का काम है कि अपने ढंग से वो उस पुस्तक को सजीव बनाए। आखिर शिक्षा एक सम्बन्धात्मक क्रिया है। तो शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों ही मिलकर उसे सजीव बनाते हैं। चाहे वो भौतिकशास्त्र हो या समाजशास्त्र, वो पुस्तकालय में पड़ा हुआ एक ज्ञान ही है।

मैंने एनसीईआरटी के निदेशक के पद पर रहकर यह ज़रूर जाना कि हर विषय की अपनी समस्याएँ हैं। मुझे उम्मीद थी कि ‘होशंगाबाद विज्ञान’ का असर विज्ञान की सभी स्तरों की किताबों में नज़र आएगा लेकिन ग्यारहवीं-बारहवीं के विज्ञान को जब देखा तो ऐसा लगा कि विज्ञान को लेकर पाठ्यपुस्तकों की मान्यता अभी भी पारम्परिक है। मेरा ख्याल था कि विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें 12वीं तक आते-आते कहीं ज़्यादा सजीव हो जाएँगी, यह फतह हमको हासिल हुई राजनीति विज्ञान में - एक ऐसा विषय जिससे मुझे बहुत आशा नहीं थी। कई कारणों से यह विषय ज़्यादा सजीव हो उठा, इतिहास में भी यह सफलता हमें मिली, और उसका कारण यही था कि इतिहास विवादों से ग्रस्त था और परिवर्तन की उसमें बहुत ज़्यादा गुंजाइश थी। गणित एक ऐसा विषय है जिसमें पाठ्यपुस्तक का विकास बहुत तेज़ी

से हो सकता है। हिन्दी में भी मुझे आशा थी क्योंकि मैं खुद हिन्दी से जुड़ा हुआ हूँ। लेकिन मुझे यह समझ में आने लगा कि इन विषयों की पाठ्यपुस्तकों को नए सिरे से परिकल्पित करने के लिए, मुझे भी अभी बहुत गहराई से सोचना है। इस विषय में हमारे देश में काफी कम सोचा गया है। जैसे कि भाषा की पाठ्यपुस्तकों का क्या मकसद है? क्या केवल साहित्यिक सामग्री का ज्ञान देना ही उनका उद्देश्य है? इत्यादि।

❓ प्रश्न - सीबीएसई और एनसीईआरटी के बीच के सम्बन्ध के बारे में आपके क्या विचार हैं?

औपनिवेशिक काल में जो बोर्ड नाम की संस्था को स्थापित किया गया, वह कालान्तर में पाठ्यपुस्तक और पाठ्यपुस्तक बनाने वाली संस्था बन गई। कई राज्यों में आज यही स्थिति है। एनसीईआरटी और सीबीएसई के सम्बन्धों में भी यह तनाव लगातार प्रकट होता रहता है। एनसीईआरटी को पहले सिर्फ पाठ्यपुस्तक बनाने का अधिकार था। उसके बनाए गए पाठ्यक्रम में भी संशोधन करने का अधिकार एक ऐसे बोर्ड के पास है, जो केवल इम्तिहान लेने के लिए नियत है। तो ये तो सिर्फ परिभाषाओं का खेल नहीं, यह तो पूरा इतिहास का खेल है कि हमारे समाज में, हमारी व्यवस्था में, इम्तिहान वो चाबुक है जिससे ताकत मिलती है। और वो चाबुक है बोर्डों के पास। एनसीईआरटी सिर्फ एक नैतिक किस्म की हैसियत रखती है। और भारत में जिसकी सिर्फ नैतिक हैसियत है, उसकी दुर्दशा ही होती है।

हमारे देश में जब पाठ्यपुस्तक को लेकर कोई विवाद उठता है, तो एनसीईआरटी कटघरे में खड़ी की जाती है न कि सीबीएसई हालाँकि किताब का इस्तेमाल वो कर रही है और किताब उसने चलानी है। एनसीईआरटी ने तो केवल बनाई है। आपको नहीं पसन्द है, मत लीजिए। अभी जो कार्टून विवाद हुआ... वो क्या था? आखिरकार किताब एनसीईआरटी ने अपनी बुद्धि से बनाई थी। आपको नहीं पसन्द है, आप दूसरी बनवा लीजिए। लेकिन नहीं। सीबीएसई को उस किताब को लगाने के लिए उसको कोई कटघरे में खड़ा नहीं करता। पूछता नहीं कि क्यों लगाई आपने ऐसी किताब। एनसीईआरटी की दशा इसी कारण से बड़ी कमजोर पड़ जाती है क्योंकि उसके पास उस तरह का अधिकार नहीं है, वैसी ताकत नहीं है। राज्यों में तो यह स्थिति और भी गम्भीर है।

❓ प्रश्न - निजी संस्थाओं द्वारा बनाई गई पाठ्यपुस्तक व स्कूल बोर्ड से उनके सम्बन्ध से जुड़ी हुई किस तरह की समस्याएँ हैं? इनका समाधान कैसे किया जा सकता है?

निजी प्रकाशकों की तो निजी स्कूलों पर एक अच्छी पकड़ है, उनकी गुणवत्ता जाँचने के लिए एनसीईआरटी जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। राज्यों में शैक्षिक संस्थाएँ नहीं हैं और बोर्ड मुख्यतः क्रियान्वयन की संस्था है। उसका काम इम्तिहान लेना है, उसके पास तो अपनी ही या अपने द्वारा स्वीकृत की गई किताबों की गुणवत्ता जाँचने की... भी क्षमता नहीं है। बोर्ड के पास वो रहस्यमय ताकत है जो आपको फेल या पास कर दे। बोर्ड का अपना एक रहस्यमय संसार है। केन्द्रीय स्तर पर एनसीईआरटी ने अपने जीवन के 50 वर्षों में किसी हद तक अपने काम को एक शैक्षिक दर्जा दिया। लेकिन राज्यों में ऐसा कहीं नहीं हुआ। किसी भी राज्य में एनसीईआरटी जैसी यूजीसी द्वारा स्वीकृत, वेतन देने वाली शैक्षिक संस्था स्कूली शिक्षा के स्तर पर काम नहीं करती है। एनसीईआरटी की उतनी हैसियत नहीं है कि उनके कर्मचारियों को यूजीसी के वेतन दिए जाते हों। यूजीसी के वेतन से आशय है एक मानक कि ये उच्च शिक्षा का काम है।

एनसीईआरटी इस अर्थ में अकेली है, अनोखी है, और उस अर्थ में बेचारी भी है कि उसके कदमों से कदम मिलाने वाले राज्यगत संस्थान नहीं हैं वरना इन परिवर्तनों को लाने में हम अब तक शिक्षा व्यवस्था में कहीं आगे बढ़ चुके होते।

2 प्रश्न - क्या इस तरह की कमेटी या संस्था का निर्माण होना चाहिए जो देश में बनी सभी पाठ्यपुस्तकों का निरीक्षण कर सके? यदि हाँ तो यह कमेटी किस स्तर पर होनी चाहिए? और इसमें किस तरह के लोगों को शामिल होना चाहिए?

इस तरह की कमेटी की संकल्पना, पिछले मंत्री ने की थी जिसके तहत पाठ्यपुस्तक परिषद बनाने की कोशिश की गई थी, जो प्रेस परिषद की तरह काम करती और जहाँ पाठ्यपुस्तक सम्बन्धी शिकायतें सुनी जा सकतीं। लेकिन उसे कानून बनाने के लिए जो विधेयक संसद में लाया जाना था, उस विधेयक पर राज्यों से ही इतनी आपत्तियाँ आईं कि वो विधेयक संसद में जा ही नहीं सका। व्यक्तिगत रूप से मैं इस बात से सहमत हूँ कि ऐसी परिषद होनी चाहिए जो कि शिक्षा मंत्रालय द्वारा बनाई जाए लेकिन जो स्वायत्तता-पूर्वक चल सके, जिसका अपना विधान हो और जिसके अनुसार उसमें अलग-अलग विषयों के सदस्य हों। जिसके सम्मुख यदि कोई पेचीदा मसला आए तो वो उसे किसी विश्वविद्यालय के पास, उस पर प्रकाश डालने के लिए दे सके व फिर उनके सुझाव को ध्यान में रखते हुए खुद निर्णय ले सके।

2 प्रश्न - पाठ्यपुस्तक में कार्टून किस तरह की भूमिका निभाते हैं?

कार्टून, चित्र, अभ्यास तस्वीर या रेखाचित्र, ये सब चीज़ें विधाएँ हैं। पाठ्यपुस्तक

एक ऐसी जगह है, जहाँ आप बच्चे को किसी ज्ञान के सन्दर्भ में आकर्षित करने की कोशिश करते हैं, जिसको वो पढ़े, समझे व उस पर सोचे। इस मायने में कार्टून का कोई विशेष स्थान नहीं है। कार्टून कुछ विषयों में बड़ा महत्व रखता है, जैसे कि राजनीति विज्ञान। हमारे राजनीतिक जीवन में कार्टून का महत्व है, तो राजनीति विज्ञान को पढ़ाने में क्यों न हो?

? प्रश्न - लेकिन कार्टून के साथ कई दिक्कतें भी जुड़ी हुई हैं - वह हर बात या परिस्थिति को बढ़ा-चढ़ा कर रखता है।

तो यह भी तो सीखाना हमारा ही काम है। आखिर आप संविधान को आगे बढ़ाने वाले नागरिक तैयार कर रहे हैं, जो रोज़ अखबारों में कार्टून देखेंगे, तो कार्टून पढ़ने की, समझने की क्षमता उनमें हो, यह भी तो काम शिक्षा का ही है। कार्टून जिस स्थिति को चित्रित करता है उसे समझने के लिए उसमें लौटना ज़रूरी होता है। अम्बेडकर का कार्टून ही ले लीजिए। इसको समझने के लिए हमारा 1949 में लौटना ज़रूरी है। सन् 1949 में लौटने के लिए, एक नया देश, नया संविधान नहीं बन पाया है, तो वो अधीर हो रहा है। संविधान बनाने वाली समिति बहुत ही जटिल काम कर रही है। उसको पता है कि वो बहुत धीरे-धीरे होगा। उस अधीरता और उस विवशता के बीच एक जो तनाव था, उसको उस समय बनाया गया एक कार्टून ही चित्रित कर सकता था। ये तो अध्यापक का काम है वो किस तरह से किसी परिस्थिति विशेष पर प्रकाश डालने वाली किसी सामग्री को जागृत कर सके। आप देखेंगे कि विज्ञान में कार्टून का बेहद कम इस्तेमाल होता है, नहीं के बराबर। तो यह विज्ञान की प्रकृति है। दूसरी तरफ़ इतिहास, राजनीति विज्ञान, समाज-विज्ञान, इनमें कार्टून का स्थान है। व्यंग्य भी मनुष्य की ही इच्छा होती है कि मैं जिस स्थिति का सामना कर रहा हूँ, जिस पर मेरा कोई नियंत्रण नहीं है, मैं कुछ नहीं कर सकता तो व्यंग्य तो कर ही सकता हूँ। कार्टून एक व्यंग्य विधा है। बच्चों को भी इसकी ज़रूरत पड़ती है, बच्चे इसे पसन्द भी करते हैं। यह तो ज़ाहिर है आखिर बच्चों ने इस किताब को जो बड़ी मुश्किल से इतने विवादों के घेरे से निकली है, बहुत सराहा, उसको बहुत पसन्द किया। इसमें कहीं-न-कहीं कार्टूनों का भी योगदान होगा।

? प्रश्न - भारत में पाठ्यपुस्तक का एक बड़ा भारी बाज़ार है। उसका पाठ्यपुस्तक पर क्या प्रभाव पड़ता है?

व्यापारीकरण की तेज़ हवा बह रही है। और उस हवा से पाठ्यपुस्तक उद्योग पर भी बहुत असर पड़ा है। तो इसलिए यह तो है कि एनसीईआरटी जैसी संस्था जो कम कीमत पर अच्छे स्तर की पाठ्यपुस्तक छापती रही है, उसके

ऊपर बहुत दबाव है। तरह-तरह के निजी स्कूल खुल रहें हैं, और वे यह दावा कर रहे हैं कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा रूपरेखा की तर्ज पर अपनी किताबें वे खुद छाप रहे हैं। जबकि अगर इनकी व्यवस्थित रूप से तुलना की जाए तो दोनों के संसार अलग हैं व दोनों की शैलियाँ अलग हैं। लेकिन माता-पिता, स्कूल या प्राचार्य को गुमराह करने के लिए, कागज़ भी अच्छा लगाएँगे और ऊँचा मूल्य भी लेंगे। उस मूल्य में भी बड़ी समस्याएँ हैं, अब एक किताब 30 रु. की मिल रही है और दूसरी 150 रु. में मिल रही है। तो ज़ाहिर है कि 150 रु. वाली किताब में बहुत-सारे लोगों को खुश करने की क्षमता है। तो निश्चित रूप से, इस पूरे क्षेत्र का बहुत बड़ा बाज़ारीकरण हो रहा है। इस स्थिति में कब तक सरकार की छापी हुई किताबों का एक महत्व बना रहेगा, यह अनुमान लगाना बड़ा मुश्किल है। कुछ राज्यों में कुछ विषयों के लिए निजी किताबें लेना शुरू हो गया है। बंगाल में तो बहुत समय से यह व्यवस्था रही है, उच्चतर-माध्यमिक स्तर पर, और कई राज्यों में, परीक्षा बोर्ड निजी किताबों को लागू करते रहे हैं। उनके बोलबाले की वजह से किताबों की गुणवत्ता को सुधारने के लिए, सरकारें कुछ खास कदम नहीं उठा सकी हैं। यह एक बहुत बड़ी समस्या है कि बाज़ार के प्रभाव में चलने वाले पाठ्यपुस्तक के उद्योग की गुणवत्ता को सरकार किस तरह से सुधार सकती है।

❖ प्रश्न - क्या आपको लगता है कि पाठ्यपुस्तक विचारधारा व वास्तविकता के बीच में एक ताल-मेल बना सकती है?

यह एक बुनियादी बात है कि विचारधारा क्या है। विचारधारा सरकारों और वर्चस्व प्राप्त वर्गों की होती है। और अगर विचारधारा का वाहक ही शिक्षक बन जाए जैसी चिन्ता ग्राम्शी ने व्यक्त की थी और पाठ्यपुस्तक भी वर्चस्व प्राप्त विचारधारा की वाहक बन जाए, तो एक तरह से शिक्षा के उद्देश्य ही खण्डित हो जाएँगे। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि स्वायत्तता के साथ पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक बनाई जाए। राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा रूपरेखा, 2005 का महत्व इसलिए है कि इस दौर में उन्होंने अपनी स्वायत्तता की रक्षा की और इसलिए तरह-तरह की ऐसी सामग्री का निर्माण किया, जिनमें विचारों के सामने सवाल खड़े किए गए, उनमें वर्चस्व प्राप्त विचारधाराएँ भी शामिल हैं। जिनका हमारे समय में बहुत बोल-बाला है, उन पर भी प्रश्न खड़े किए गए। यानी प्रश्न खड़े करने की एक शिष्ट शैली का विकास किया। विचारधारा के दबदबे में न आकर, विचार के लिए जगह बनाना ज़रूरी है। विचारधारा विचार का क्षेत्र सीमित कर देती है। विचार और विचारधारा में जो अन्तर्विरोध है, इस अन्तर्विरोध के चलते ही हम शिक्षा का उद्देश्य समझ सकते हैं कि

एक वैचारिक खुलापन व्यक्तित्व में लाना है, और इसलिए वो किसी भी तानाशाही के विरुद्ध समाज में एक जगह बनाती है, और उसमें राज्य की तानाशाही भी शामिल है। वो एक तरह की सामाजिक जगह का निर्माण करती है, जहाँ पर हम सार्वजनिक रूप से निडर होकर सवाल पूछ सकते हैं। पूछने की हमारी शैली ऐसी होती है कि हम उसमें संवाद बनाते हैं। तो एक तरह से शिक्षा का अहिंसक काम है क्योंकि वो शब्दों के ज़रिए चलती है, न की हथियारों के ज़रिए। इस दृष्टिकोण से अगर आप देखें तो बहुत ज़रूरी है कि कोई भी पाठ्यपुस्तक या पाठ्यक्रम का निर्माण किसी विचारधारा के साए में न हो। अगर ऐसा होता है तो वो शिक्षा के उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकता, भले ही वो किताबें, किसी विषय की ज्ञान की दृष्टि से कितनी भी अच्छी क्यों न हों। अब आप... समाज विज्ञान छोड़ दीजिए, विज्ञान में आइए। अणुशक्ति एक बहुत बड़ा मसला है। ठीक है यह मसला विज्ञान का भी है, टेक्नोलॉजी का भी है, लेकिन ये देश का या राजनैतिक मसला भी है, और इसलिए इस विषय पर पूरी एक समग्रता से सोचने के लिए खुलापन भी बहुत ज़रूरी है। भले ही अणुशक्ति खुद रहस्य के घेरे में काम करती है, क्योंकि इसका सम्बन्ध हथियारों से भी है, देश की रक्षा से भी है। जैसे ही यह प्रश्न उठते हैं, आपको लगता है कि यह तो मामला ऐसा है जिस पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाए जाने चाहिए... ठीक है लेकिन शिक्षा का काम है कि वो बच्चे के भीतर एक जिज्ञासा विकसित करे। लेकिन अगर इन प्रश्नों को शिक्षा नहीं उठाती है क्योंकि अणुशक्ति एक विचारधारा के तहत स्वीकार कर ली गई है और उसके विकल्पों की खोज मान ली गई है तो यह एक तरह से बेइमानी है। अगर ऐसा होता है तो... शिक्षा का उद्देश्य एक तरह से खत्म हो जाता है... फिर वो प्रचार का साधन बन जाती है। तो इसलिए आपको शिक्षा और प्रचार में फर्क करना पड़ेगा जिसके ज़रिए विचार और विचारधारा का जो पूरा मसला है... ये और स्पष्ट हो जाएगा।

कृष्ण कुमार: प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं लेखक। शिक्षा के मुद्दों पर सतत चिन्तन एवं लेखन। राज, समाज और शिक्षा; बच्चे की भाषा और अध्यापक आदि चर्चित कृतियाँ हैं। एनसीईआरटी में कुछ साल निदेशक के रूप में कार्य किया है।

दिशा नवानी: मुम्बई के टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़ में शिक्षा विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर और एम. ए. एलिमेण्टरी एजुकेशन कोर्स की कोर्स कोऑर्डिनेटर हैं। उनकी रुचि के क्षेत्र भाषा शिक्षणशास्त्र, बाल साहित्य, सामाजिक अध्ययन शिक्षणशास्त्र, सामग्री विकास आदि हैं।

